वाणी-विनोद-ग्रन्थमाला—३

शंखनाद

लेखक

श्रीआनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव

प्रकाशक

ओझाबन्धु-आश्रम, प्रयाग।

॥)

समर्पण

छात्र वृन्द, नव युवक वृन्द, भारत के प्यारे,
देख रहा है देश आज बस वदन तुम्हारे,
तुम्हीं बना सकते स्वतंत्र हो अपने मन को,
तुम्हीं काट सकते स्वदेश के दृढ़ बन्धन को,
इसी लिये यह पुस्तिका अर्पित है सादर तुम्हें,
इससे बढ़कर और क्या दें सप्रेम यह कर तुम्हें!

लेखक—

विषय-सूची

प्राक्कथन—

ये कहानियाँ सन् १९२५ में लिखी गई थीं। कारणों वश इनका प्रकाशन अबतक स्थगित रहा। श्रध्येय पं० चन्द्रशेखर शास्त्री जी की कृपा से ये प्रकाशित हो रही हैं। वे मेरे गुरु-जनों में से एक हैं, अतएव मैं उन्हें धन्यवाद देने की धृष्टता नहीं कर सकता।

इन्हें मैं स्वयं केवल पद्यमय कहानियाँ समझता हूँ। जो सज्जन इनको काव्य समझकर इनकी अलोचना में तत्पर होंगे वे मेरे साथ अन्याय करेंगे। भारतवर्ष के हिन्दी भाषी छात्र वृन्द को अपने पूर्वजों के गौरव के सहस्रांश का स्मरण दिलाना मात्र इनका उद्देश्य है, काव्य-शक्ति का प्रदर्शन नहीं। अतएव ये उसीद्रष्टि से लिखी गई हैं। इनमें पूर्व भारतीय उदात्त धर्म नीति की किञ्चित आलोचना भी मिलेगी, जो बालकों के समझने योग्य भाषा में ही होगी, कथाभाग की गति तीव्र होगी जिसमें बालक ऊबें नहीं। वर्णन में अनेक प्रकार के छन्दों का उपयोग किया गया है। पात्र जिस बात को मनमें सोचते हैं या कहते हैं वे केवल परिवर्तित विरामों

में रख दी गई हैं, बहुधा यह नहीं बताया गया कि अमुक व्यक्ति अमुक बात कह रहा है। यह लिखना बालकों की सुविधा के लिये आवश्यक जान पड़ा।

आधुनिक काल में, जब भारतवर्ष के बालक अपने पूर्वजों के अधिकांश गौरव को भूल कर उन्हें कुपढ़, मूर्ख, कायर एवं मनुष्यत्वहीन समझ रहे हैं ऐसी कहानियों की बहुत अधिक आवश्यकता है। जिन पूर्वजों की कीर्ति विदेशियों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करती हुई किसी समय सारे भूमण्डल को अपने अनुपम आलोक से प्रकाशित करती थी वे ही हमारे नवशिक्षित नवयुवकों के लिये अतीव साधारण पुरुष हैं। नैपोलियन के साथ कोई शिवाजी का नाम ले तो वे हँस पड़ते हैं। वे समझते ही नहीं कि हमारे पूर्वज क्या वस्तु थे। यह भारत का दुर्भाग्य है और निश्चयही वह मेरे मिटाये नहीं मिट सकता। परन्तु तिस पर भी इस घोर रजनी में दीपक जलाने का प्रयत्न बुरा नहीं है। सूर्योदय होने के पहले यही सही!

ता० १ अगस्त १९२९ } आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव

शंख-नाद

संयमराय का संयम

जगत का निर्बल हाहाकार,
कायरों की सब करुण पुकार,

जिन्हें है हास्यास्पद सब काल,
हृदय है जिनका भय का काल,

उन्हीं वीरों को विनत प्रणाम,
वीरता से भर दे हृद्धाम!

शारदे ! इसको देना ओज,
इसे कुछ पड़े न करनी खोज।
वीर-भावों के मर्म अनेक,
नोक से छूजावें प्रत्येक।
प्रकृति से अनायास सब काल,
लेखनी साधे कार्य विशाल।
करे कायरता का परिहार,
इसी पर है यह गुरुतम भार।

\+ + +

समदि शिखर पर विजय प्राप्त कर,
देश देश में सुयश व्याप्त कर,
लौट रहे थे, कहीं बीच में,
फँसे नागवर युद्ध-कीच में।
रोक शहाबुद्दीन वीरवर
राह, खड़ा था तेग़ तान कर!
घोर युद्ध ठन गया वहीं पर,
यवन पचास-सहस्र मृत हुए!

भागे, भागे बचे नहीं पर,
स्वयं शहाबुद्दीन धृत हुए !
पृथ्वीराज सनय उदार थे,
दयावीर थे, निडर धीर थे,
गोरी के टेढ़े विचार थे.
पर ऊपर से द्रुग सनीर थे।
माँगी उसने भीख प्राण की,
रोक-टोक थी इधर क्या भला ?
रीति शरण-गत मनुज त्राण की
पाली, यों भारत गया छला !
छोड़ दिया अरि को, पाकर जय,
थी उदारता उनकी निश्चय !
पर न ज्ञात अरि-भाव उन्हें था,
ज्ञात न मनुज-स्वभाव, उन्हें था।
मुख से नर-पहिचान नहीं थी,
राजनीति की जान नहीं थी।

+ + +

कुछ आहत योद्धा राजा के
भूल गये दिल्ली की राह,

लगा युद्ध करने इतने में,
सम्मुख दुर्धर झंझा-वाह।

निकले जाकर दैवयोग से
नगर महोबे के वे पास,

निकट देख परिमाल नृपति का
उपवन, हुए तनिक गत-त्रास।

पर माली को उनका जाने,
क्यों न सह्य हो सका प्रवेश,

रोक टोक की जब उसने तब,
आया उनको क्रोध विशेष।

समझाया माली को पहले,
पर न एक उसने मानी।

आहत अंग कांपते थे,
थी हवा कर रही मनमानी।

प्राणों के संकट में पड़ कर
प्राणग्राही वीर हुए,
घायल व्याघ्र भला कब ऐसे
रोधों से न अधीर हुए।

किसी वीर के एक हाथ ने
शिर भुट्टा सा उड़ा दिया,
सुना हाल परिमाल नृपति ने,
बिना विचारे कोप किया।

छूटे सैनिक, दिखा वीरता,
आहतगण को घेर लिया,
पर चौहानों ने तिस पर भी
आत्मसमर्पण नहीं किया।

थोड़े हों या बहुत, युद्ध में,
आहत हों अथवा रुजवान,
कहीं वीरजन सह सकते हैं
क्या रिपु के हाथों अपमान ?

दिखा दुरन्त युद्ध कौशल निज,
बदले में ले दस दस प्राण,
बँधा नहीं, मर गया वहीं पर,
कर कर के रण हर चौहान।

+ + +

कभी वीर नृप सह सकते हैं
आश्रित के प्रति दुर्व्यवहार,
गिरे गगन चाहे पृथ्वी पर,
चाहे उलट जाय संसार।

दुष्ट वृत्त यह दिल्ली पहुँचा,
क्षुब्ध हुए सुनकर सम्राट,
है विराट जिनका चरित्र
है होता उनका मन्यु विराट।

फिर भारत के वक्षस्थल पर
छिड़ा भाइयों का संग्राम,

नहीं किसी का वश चलता है
हो जाता है जब विधि वाम।

\+ + +

परिमाल देख निज निकट हार,
मन में यह करते थे विचार,
ले ली विपत्ति यह व्यर्थ मोल,
हैं जीव अमित जाते अमोल।
पर क्षमायाचना का विचार
भी व्यर्थ, न था निस्तार सार।
आल्हा ऊदल के बिना आज
यह सारहीन हो गया राज।
भर गये नीर दृग में अधीर,
अब सुननेवाला कौन पीर ?
नौका डगमग अप्राप्य तीर,
अब आड़े आवे कौन वीर ?

योँ बहुत तरह से सोच-सोच,
मन में करते भारी सँकोच,
कहलाया पृथ्वीराज-पास—
" रण बन्द कीजिए एक मास।
सेनापति जिसके बीच नहीं,
सेना वह करती युद्ध कहीं ?
वे हैं प्रवास में दूर आज,
जब आवें सजिए युद्ध साज।"

माना पृथ्वीपति ने उदार,
हो गया त्वरित तब युद्ध स्थगित,
कैसे उन्नत थे वे विचार!
करना था ज्यों त्यों अरि न विजित।
भगते रिपु पर करना न वार,
करना न कभी पहले प्रहार,
करना अशस्त्र रिपु का न घात,
मन में न सोचना स्त्री-निपात,

अरि-सुविधा का रख पूर्ण ध्यान,
कर शरणागत रक्षा विधान,
यह ध्येय हमारा था विशाल,
जो हुआ हमारे हेतु काल!
जब हुआ फूट से बल-निर्गत,
गुरु पात्रापात्र विचार विगत,
तब हुए हानिकर वही नियम,
यति-वेश यथा हो गत-संयम।
तब कायरता बन गयी क्षमा,
औदार्य बना मूर्खत्व रमा,
होना रण-कौशल से अजान,
बस धर्म युद्ध का हुआ ज्ञान!
यों उच्चभाव से नीचभाव,
हो गये प्रकट करके बनाव।
पर दिल्ली पति थे परम वीर,
उनका था वह औदार्य धीर।

\+ \+ \+

नगर महोबे के प्रसिद्ध थे
आल्हा ऊदल वीर महान,
जिनके वीर पिता ने दी थी
नृप परिमाल-हेतु ही जान।

फिर भी देश निकाला पाकर—
उपकारों का गुरु प्रतिदान,
पाया था कन्नौज-नृपति से
जाकर उनने आश्रयदान।

याद उन्हींकी मन में करते
चिन्तित थे राजा परिमाल,
उद्धतपन से वीर निकाले,
छिड़ा उसीसे युद्ध कराल!

गर्दन झुकती कभी उन्हींकी
जो करते उद्धत व्यवहार,
किस मुँह से माँगें सहायता,
यही विचारों का था सार।

निर्बल की अतिनिर्बलता है,
देना नहीं आन पर जान,

सबल जान भी दे देता है,
किन्तु न लेता सिर अपमान !

बुला भाट जगनक को, उसको
समझायी सब मनकी बात,

"कहना विनय समेत—काल की,
यहां उपस्थित है अब रात !"

पहुँचा जब कन्नौज भाट,
उनसे सूखा उत्तर पाया,

उनकी माता, देवलदेवी
के महलों में तब आया ।

आँखों में आंसू भर करके
उनसे भी वह वृत्त कहा,

सुन कर करुणाकथा स्वदेश की,
दृग से अस्रु-प्रवाह बहा !

गरम जान कर अब लोहे को
लोहकार ने काम किया,
अवसर पाकर के जो चूका
उसने अवसर वाम किया।

"तुमने की थी कभी प्रतिज्ञा,
मातः, याद करो मन में—
रक्खूंगी नित ध्यान देश का
जीवन रहते तक तन में।

है विपत्ति में आज जन्म-भू,
चुप रह जाओगी तुम क्या?
वीरवधू, वीरों की जननी,
यह सह जाओगी तुम क्या?

देशवासियों की लोथों पर
रिपुजन के घोड़ों की टाप,
ऐसा भावी दृश्य भला क्या
देख सकोगी तुम चुप चाप!"

होकर के अधीर माता ने
तब पुत्रों को बुलवाया,
कही बात जब, तब विरोध कुछ
ऊदल के मुख पर आया।
सुन जननी अति क्षुब्ध हो गयी
हुआ सिंहिनी का हुंकार—
"बेटा जगनक चलो चलूं मैं
ऐसे पुत्रों को धिक्कार !
राजा ही अपने दोषी हैं,
किया उन्होंने दुर्व्यवहार,
प्रिय स्वदेश के वीर जनों पर
है यह तो विपत्ति का भार !
है अब तो अपमान देश का,
नहीं मात्र नृप का अपमान,
बुद्धिहीन मेरे पुत्रों को
नहीं हाय इतना भी ज्ञान !

पुत्र यही यशराजदेव के
जिनने दी स्वदेशहित जान,

स्वार्थी कायर ये देखेंगे
जन्मभूमि का अब अपमान।

गर्भ हुआ मेरा क्यों कलुषित
इन पुत्रों से हा भगवान !

चलो, चलो, जगनक चलती हूँ
मैं ही कर में लिये कृपान।"

उचित वचन सुनकर जननी के
वहीं झुके पुत्रों के माथ,

चढ़े शीघ्रगामी अश्वों पर
दिया उन्होंने उसका साथ !

\+ + +

देख असंख्य अनी दिल्ली की
अति भयभीत हुए परिमाल !

लगे संधि की इच्छा करने
समझ उपस्थित अपना काल।

पर स्वीकार न था आल्हा को
ऐसा निन्दनीय प्रस्ताव,

कहा उन्होंने नृप से—"था फिर
हमें बुलाने का क्या भाव?

मस्तक में टीका लगवा कर
अगर हार का हम जावें,

वीर हमारे सदृश जगत को
भला कौन मुख दिखलावें?

बहुत आपको डर लगता हो
तो महलों में बैठें आप,

हार न होगी अपनी, होंगे
उदित न जो पहले के पाप।"

जनक और सुत छोड़ रणस्थल
तब महलों को चले गये,

सोचा वीरों ने, कायरता के
खम्भे थे, भले गये।

आग लग गयी तव रानी के
जब उसने देखा यह हाल,

कहा न पति से कुछ, पर उसकी
फिरी पुत्र पर आँखें लाल!

"हे कलंक चन्देलवंश के,
आई नहीं तुझे कुछ लाज,

नहीं रसातल को क्यों जाता
ऐसे राजाओं का राज।

आया है तू क्या मुँह लेकर
छिपने स्त्री के अञ्चल में,

ओढ़ ओढ़नी बैठ यहां पर
डूब न चिल्लूभर जल में।

करके मेरा गर्भ कलंकित
मुँह दिखलाता है मुझको,

मिट्टी के ढेले, रण तज कर,
यों घर भाता है तुझको !
तुझे पाल करके हाथी सा
किया आज क्या इसी लिए,
हाय नाथ, मेरी गोदी का
दिया साज क्या इसी लिए !"
विकल हो गई रानी फिर तो
बहने लगा नयन से नीर,
भूमि गड़ गया तब लज्जा से
पुत्र ब्रह्मजित हुआ अधीर !
बोली रानी, "हट सम्मुख से
मुझे न अब मुँह दिखलाना,
मैं मर जाऊं तब भी मेरे
शव के निकट न तू आना।"
कहा पुत्र ने तब विह्वल हो
कहो न माता ऐसी बात,

ऐसा कायर भाव सदा से
है चँदेल जन को अज्ञात।
यहां पिताजी को पहुँचाने
आया था मैं तो इस काल,
मैं भयभीत नहीं हो सकता,
लड़े क्यों न आ करके काल।

\+ + +

मनुज-पूरित आज रणस्थली
मुदित थी लगती कितनी भली।
लहर-सा स्वर-वीर उठा महा,
विविध थे रण-चारण भी वहां।
हय-निनादित दिग्गज घोष से,
सकल सैनिक दुर्धर-रोष से।
सुरथ-चक्र-प्रचालन-वेग से,
तुपक-तोप घनाघन वेग से।

अनिल-मण्डल मन्थित था हुआ,
गगन भी रज-गुम्फित था हुआ।

विशद-व्यूह-समूह रचे गये,
रण अनेक प्रकार नये नये।

प्रखर बुद्धि अनीपति व्यग्र थे,
बहु समुत्सुक वीर समग्र थे।

द्विविध थे नृप-केतन यों उड़े,
मनुज-नाशक-शासक ज्यों जुड़े।

त्वरण-घात सहस्र सहस्र थे;
बहु सहस्र प्रचलित शस्त्र थे।

कवच घर्षित दिव्य अजस्र थे,
अति बुभुक्षित पावक-अस्त्र थे।

रण का इंगित हुआ, दनादन
बहु संख्यक तोपें छूटीं,

विपुल-शिरों के गुरुसागर पर
मघों से बिजली टूटीं!

धुवांधार हो गया रणस्थल,
भानु छिपे, कांपी वसुधा,
अमर नाम करने को अपने,
पी वीरों ने मृत्यु-सुधा।

नाशपिंड गोले गिरते थे
वज्र-सदृश घनरव करके।
प्रलयकाल था वहां उपस्थित,
बड़वानल उद्भव करके।

काली काली धूम राशि में,
गोलों की गुरु ज्वालाए,
चण्डी के विस्तृत वक्षस्थल
पर ज्वाला की मालाएँ!

घोड़े हिन-हिन कर गिरते थे,
हाथी कर कर के चिग्घार!
ऊँट तड़प कर रह जाते थे,
खाकर के गोला का मार!

बहुत देर यह घमासान था,
बाद चली गोली की मार!
वर्षा थी ऐसी, जिसमें थी
गोली बूँदों की बौछार।
नहीं रह गई जब गोली तब,
चलने लगी वहां तलवार,
किसी गले के, किसी हृदय के,
किसी कमर के, होकर पार!
करने लगे दनुज होकर के
भाई भाई का संहार,
यम को करना मुक्त पड़ गया
अपने स्वर्ग-धाम का द्वार!
छटा देखने योग्य बनी थी,
वीर-जनों की रण में आज!
मुख की रक्त दीप्त आभा वह,
वह चलते हाथों का साज!

\+ \+ \+

वे घूम घूम कर चक्र रूप,
करते थे खेल परम अनूप !

वे मार इसे उसको पछाड़,
उठते थे सिंहों से दहाड़।

थे रुण्ड चलाते असि अनेक,
थे मुण्ड पीसते दन्त कहीं,

लख भूल भगेड़ू भी विवेक
करने लगते रण अन्त कहीं।

कुछ हार जीत का था न ध्यान,
बस मार मार की थी पुकार,

सब भूल भूल संसार-ज्ञान,
जीते मरते थे बार-बार !

घायल को लगा कुटुम्ब ध्यान,
अथवा पानी पानी की रट।

कायर मरते थे, किन्तु म्ज़ान,
मरते थे हँस हँस सभी सुभट।

रण-चण्डी का अति चण्ड रूप,
ले असि था नाच रहा अनूप!

योगिनी लिए खप्पर विशाल
भरतीं थीं रक्त हटा शृगाल!

निज तृषा बुझा करके कराल,
सब चूम चूम करवाल लाल।

सब घूम घूम कर घनाकार,
झन झन कृपाण को झार झार!

थी प्रलय दूत सी भूत धार,
कर घोर शब्द करती पुकार!

बन रही भूमि थी रक्तसार!
उतराते थे कर-पद अपार!

वे रुण्ड मुण्ड सब डूब डूब,
पी रुधिर पेट भर ऊब ऊब,

करते आपस में थे किलोल,
बोलियाँ भयानक बोल बोल।

उन छिन्न मस्तकों की उड़ान,
उड़ते कर पद की घमासान,
उठ उठ कर वीरों की भिड़न्त,
रण घोष पूर्ण कम्पित दिगन्त।

\+ + +

वह आल्हा की तलवार,
ऊदल की भीषण मार,
बस उड़ा रक्त की कीच,
रिपु सघन दलों के बीच,
उत्थित कर हाहाकार,
करती थी काट अपार।
वह पृथ्वी—असि की मार,
संयम की वह फटकार!
वह विकट कान्ह की काट
थी रही भूमि को पाट।

भिड़ भिड़ कर दुर्धर वीर,
मानों थे परम अधीर !

वह चटकी कहीं कटार,
वह धँस बरछी की धार

कर रही सकल संहार,
गिर रहे मनुष्य अपार।

उठी जब उदयसिंह तलवार,
हुआ सम्मुख भीषण चीत्कार;

गिरी जब बाएँ बन कर गाज,
चीर डाला पूरा तन एक,
उठी तो भुट्टे से शिर काट,
गिरायी भूपर देह अनेक;

गई जब दक्षिण ओर प्रचण्ड,
किया कंधे से बाजू पार,
इस तरह करती थी उद्दण्ड,
एक ही बार अनेकों पार !

वीर लड़कर आपस में आज,
मर रहे थे दुस्तर दुर्भाग,

नाश का सजा हुआ था साज,
नाश से था सब को अनुराग,

यथा अवसर कुछ का कुछ कर्म,
काटना शिर भी होता धर्म !

गिरे घायल हो पृथ्वीराज,
वीर संयम से ही कुछ दूर !

हुआ लख कर दुर्दिन का राज,
हृदय संयम का चकनाचूर !

"पड़े हैं स्वामी मूर्छित आज
हाय सम्मुख ही, पर कुछ काम

न हो सकता उनके हित आज !
नहीं होगा कुछ भी क्या राम !

कटी हैं दोनों जंघाएँ,
फिसलने की भी शक्ति नहीं !

शक्ति तो आती बिना कहे,
कदाचित है प्रभु-भक्ति नहीं !

सामने मेरी आँखों के,
अगर जाते हैं उनके प्राण।

घोर रौरव से तो मेरा
नहीं फिर हो सकता है त्राण !

कहीं अरि कोई आ जावे,
काट ले उनका शिर हो क्रुद्ध !

देखने को ही यह घटना,
अभी तक है क्या जीवन रुद्ध !"

स्वामिहित जीवन था जिसका,
स्वामिहित तन मन था जिसका !

मात्र स्वामी था धन जिसका,
भला हो कैसा मन उसका !

देख उनका जीवन-संकट,
अवस्था अपनी देख विकट,

बह गया कुछ नयनों से नीर,
हो गये संयमराय अधीर !

दुराशंका ही उनको हाय,
कर रही थी विह्वल निरुपाय !

"रत्न का यदि हो यों परिहार,
शून्य हो भारत, रत्नागार !

दीप का हो जो यों निर्वाण,
तमस से फिर कैसे हो त्राण !

एक ही है भारत में रत्न,
बचाना नाथ उसे कर यत्न !

नहीं तो है भारत पर गाज,
निकट है यवनों का साम्राज !"

सोचते थे यों संयमराय,
भीत शंकित पीड़ित निरुपाय !

"सहायक कोई भी आजाय,
कहां अपना सैनिक समुदाय !"

नहीं थी चिल्लाने की शक्ति,
और सुन भी सकता था कौन,

उमड़ती थी मन में प्रभु-भक्ति !
ठगे से बैठे थे वे मौन।

किन्तु इतने में क्या देखा !
भीति का रह न गया लेखा,

चोंच साधे राजा की ओर !
आ रहा एक गिद्ध था घोर,

पंख का उसके सुन कर शोर !
हुआ। उनके मन में रव घोर,

देख कर उसके कुटिल नयन !
नयन हो गये प्रकोप-अयन,

भाव का उसके कर अध्ययन,
उबलता था भीतर से मन,

शत्रु का ही अब तक डर था,
नहीं यह संशय भीतर था,

अचानक था यह वज्रप्रपात—
"गिद्ध के हाथ नाथ का घात !"

यही सरसर कहती थी वात—
"गिद्ध के हाथ नाथ का घात !"

लिखी थी रक्त धनों में बात—
"गिद्ध के हाथ नाथ का घात !"

दूर कहता था असि-संघात !
"गिद्ध के हाथ नाथ का घात !"

भानु-निसृत स्वर ज्वाला-स्नात—
"गिद्ध के हाथ नाथ का घात !"

पैर पर बैठा आकर गिद्ध,
हुये मानों संयम शर-विद्ध !

आंख को तकता था वह हाय ?
देखते थे संयम निरुपाय !

हुई आत्मा में उथल पथल,
खौल सा पड़ा हृदय का जल,

सिहर सा उठा समस्त शरीर,
अंध सा आंखों में था नीर,

घूमने-लगी भूमि घन घोर,
गगन में उत्थित था यह शोर—

"सामने सेवक के यह बात—
गिद्ध से नाथ-नयन का घात!"

बवंडर उठकर के सब ओर।
भयंकर करता था वह शोर!

उठे तब मन में विविध विचार,
कालिमा का कर कर विस्तार!

बहुत चाहा फिसलें पद चार,
किन्तु रह गये वहीं पर हार!

रो उठा हृदय, कठिन थी मार,
दृष्टि झपती थी बारम्बार!

न रह सकते थे खुल कर नेत्र,
न रह सकते थे मुँद कर नेत्र।

नयन करते थे बात श्रवण,
इन्द्रियां किये श्रवण धारण,
सभी सुनती थीं बस यह बात—
"गिद्ध से स्वामिनयन का घात!"
हृदय में घन से बन घन घोर,
प्रलय का चण्ड उठा कर शोर,
सुनाते थे केवल यह बात—
"गिद्ध से स्वामिनयन का घात!"
भूमि पर थी जो शोणित-धार।
चपल चल-चल वह भी हरबार,
लिख रही थी केवल यह बात—
"गिद्ध से स्वामिनयन का घात!"
कपोलों पर ढल ढल कर नीर।
वही लिखता था वहां अधीर,
कालिमा बढ़ी भीतरी ओर,
हुए बस स्वामिनयन अब कौर!

उसी में चमक उठी चपला,
लिख गया एक उपाय भला,

दूर करने को भव की व्याधि,
लगाते हैं जो मनुज समाधि,

उन्हें शुचि प्रथम-ज्योति-आभास,
ससंशय देता ज्यों उल्लास,

मुदित संयम हो उसी प्रकार,
चमत्कृत पहले हुए अपार!

अधर पर आई मृदु मुस्कान—
क्षणिक रक्षा का हुआ विधान।

सोच सब आगे का तज कर,
हुए उस पर ही वे तत्पर!

हुआ पैदा अनन्त उल्लास,
बाद के सोचों का कर ह्रास,

स्वयं सब रोमों का वह हास,
हृदय का वह दुर्दान्त हुलास!

"कुछ समय तो होगी रक्षा,
अधूरी या पूरी रक्षा,
न जाने तब तक क्या हो जाय,
नहीं हैं विश्वनाथ असहाय !
पास ही तन का जाना है,
काटना एक बहाना है,
परीक्षा-रत हो क्या तुम नाथ,
देख लो दूँगा कितना साथ !
बचा लोगे निश्चय सम्राट,
देखते मेरे क्षति की बाट !
अहे आश्वासनकर विश्वास,
साथ तेरे छूटे यह श्वास !
उठी वह देखो चोंच कठोर,
ठहर रे ठहर आंख के चोर !"
उठा कर निज टूटी तलवार,
मांस का टुकड़ा तन से काट,

(गिद्ध का मुख था इनकी ओर)
फेंक कर उसे लगाई डाट।

तनिक निज ग्रीवा टेढ़ी कर,
देख कर करता तिरछे नैन !

उड़ा वह आ टूटा उस पर,
बच गये यों स्वामी के नैन !

पुलक कर देख रहे संयम—
बच रहे हैं स्वामी के नेत्र,

देखता था वह पुण्य अनन्य
आँख खोले मानो रणक्षेत्र !

बराबर काट काट कर मांस,
फेंकते थे वे बारम्बार,

झुके सब गिद्ध चील उस ओर,
कर रहे थे उसका आहार !

गये वे नहीं भूप के पास।
विगत था अब संयम का त्रास !

वदन से प्रकटित था उल्लास,
उच्च आत्मा का का उज्ज्वल भास।

गगन के शुभ्र गवाक्षों से,
देखते थे स्नेहाक्षों से,

खेल यह ब्रह्मा विष्णु महेश,
पुण्य से कंपित थे देवेश !

एक साधारण नर में आज,
प्रकट था ऋषि दधीचि का दान,

कर रहा था सब देव समाज
मनुज के पावन गुण का गान !

खुली भूपति-मूर्छा इस काल,
देख कर संयम का यह हाल,

रोम सब पुलकित हुए अधीर,
विकल आलिंगन-हेतु शरीर !

कर्म वीभत्स महा सुन्दर
देख नृप स्तब्ध रहे क्षण भर,

अगम उस स्वामिभक्ति को देख,
अगम उस आत्मशक्ति को लेख,

सोचते ही रह गये नृपाल,
चित्र मन में खींचा तत्काल,

रहा जो बना हृदय का लाल,
अहा सम्मान योग्य सब काल !

तेजमय भीषण कर्म महान,
साथ ही संयम की मुस्कान !

गया क्या देखा कृत्य कराल ?
हो गये फिर मूर्छित नरपाल !

किये जाते थे अपना काम,
वीर संमय को था न विराम।

ढूँढते सैनिक गण के साथ,
आ गये इतने में कवि चन्द,

देख यह त्याग-दृश्य विकराल,
हुआ जो हृदय-मध्य निस्पन्द,

असंभव था उसका कहना,
रहा बस हाथ मुग्ध रहना!
आदि हिन्दी के वे कविराज,
चलाकर प्रतिभा-रूप जहाज़,
न पा सकते थे उसका पार,
लेखनी यह तो क्षुद्र असार।

हटाकर मुग्धभाव साम्राज,
प्रशंसा निकल पड़ी निर्बाध;
किन्तु संयम थे धुन में मस्त,
धन्य वह उनका ध्यान अगाध!
भूल करके अपने को आप,
भूल करके सारा संसार,
कार्य करते थे विगतालाप,
हटाते स्वीय मांस का भार!
उसी कृति में वे व्यस्त रहे,
अन्त तक धुन में मस्त रहे।

प्रशंसा का था उन्हें न भान,
और कुछ का था उन्हें न ध्यान!

त्याग था, वह था पूरा त्याग,
सुयश से भी अत्यन्त विराग!

धन्य वह मंजुल भाव महान,
धन्य रण-क्षेत्र, धन्य वह स्थान!

रह गये सभी वैद्य निरुपाय,
चन्द कवि रहे खींच कर हाय!

गये मुसकाते संयम राय,
मोद दे दिव को, जग को हाय।

स्मरण करके यह वृत्त विशाल
हँसेंगे रो-रोकर सब काल!

जान कर कभी तुम्हारा हाल
भूल जावेंगे जग-जञ्जाल!

हमीर का हठ

श्री हमीर की वीर शरण में
हुआ उपस्थित मेहमा शाह,

शरण-दान देने में करते
राजपूत किसीकी परवाह !

यद्यपि कर अपराध घोर वह
आया था यों उनके पास,

पर अपने कारण ही उसने
किया नहीं था अपना नाश।

जो कलङ्क के भय से कोई
इच्छा पूर्ण करे पर की,

हुआ न दोष उसी का केवल,
जान जाय क्यों उस नर की ?

अभयदान दे दिया उसे, रह—
गया दुर्ग में मेहमा शाह,

अत्याचार हुआ निष्प्रभसा
कही न्याय ने खुल कर 'वाह'।

सुन करके यह हाल हुआ अति
क्रोधित शाह अलाउद्दीन,

'मेरा भगा हुआ दोषी जो,
उसे करे कोई भय-हीन !

साहस इतना राजपूत का
देखूंगा मैं तुझे हमीर,

मेरी सेना के सम्मुख तू
कितना रह सकता है धीर !'

कहला भेजा उसी समय यह—
"दवा होश की करो हमीर,

ख़बर नहीं क्या छोड़ा जिसको
किधर जा पड़ा है वह तीर!

समझ बूझ कर ग़ुस्ताख़ी की,
या न जानते हो मुझको?

यही पूछता हूँ पहले मैं,
क्या न जानते हो मुझको?

शेरों के शिकार पर गीदड़
रखता है रक्षा का हाथ,

जी से हाथ तुम्हें धोना है
क्या अपनी सेना के साथ!

फेरो शाही गुनहगार को
क्यों लेते हो आफ़त मोल,

माफ़ी माँगो मुझसे आकर
बहुत नम्रता पूर्वक बोल!

वरना जो हो हाल तुम्हारा
मैं न रहूँगा ज़िम्मेदार,

बस सिर होगा झुका तुम्हारा
और .गुलामों की तलवार!"

क्षुब्ध वीर हम्मीर हो गये
सुन कर यह उद्धत संदेश,

कहा, "मारते नहीं उसे हम
जिसका हो दूतों का वेश,

सिर तन पर अन्यथा न रहता
तेरे अरे दस्यु उद्दण्ड,

यह असभ्य वाग्मिता, शाह ही
भोगेगा बस इसका दण्ड।

कहना उससे—किसी और को
देना यों गीदड़—भभकी,

जल जावेगा तू पतंग सा
आग यहां पर जो भभकी।

उसका वंशज हूँ मैं जिससे
सात बार गोरी हारा,
जिसने करके करुणा उसको
नहीं जान से यों मारा,
जैसे सिंह छोड़ देता है
चूहा पंजे में पाकर,
नीच हुआ जिसके प्रति चूहे
से भी फिर गोरी आकर !
उस नृप का वंशज हो कर मैं
दूँ शरणागत को कैसे ?
सिंह नहीं हो सकता वैसा
तुम शृगाल जम हो जैसे !
भानु उदित होवे पश्चिम में
उड़े फूक से ही हिमवान;
उगले आग चन्द्रमा, चाहे
गति—विहीन होवे पवमान,

पर शरणागत को खिलजी को
दे सकता है नहीं हमीर,
निकल वचन जाता जो मुख से
पालन करते उसका वीर।"

+ + +

भारी सेना सज कर घेरा
खिलजी ने आ रणथम्भोर,
पाँच कोस में वह फैली थी
लहरें लेती करती शोर!
शीश उठाए देख रहा था
गढ़ हमीर नृप का सब ओर,
मानों दिखता था टिड्डीदल
था जिसका कुछ ओर न छोर!
ऊपर चढ़े हमीर देव जब
लगे देखने सेना घोर!

मस्तक पर बल पड़ा नहीं,
हँस पड़ी तनिक चितवन की कोर !

"कोई भारी सौदागर सा
फिरता है लेकर यह हाट,

क्रय-विक्रय करने वालों को
क्या है यह शस्त्रों का ठाट ?

निर्भयता की मूर्ति खड़ी थी
अड़ी सौध-शिखरों के बीच,

उस उत्साह-सिंधु को मति की
सीपी क्यों कर सके उलीच !

आन कह रही थी ऊँचे से—
'बस ऊँचा है मेरा धाम !

और वहीं नीचे रहना है
पद पर उस सेना का काम !

माँगेगी जीवन-भिक्षा तो
वह उसको मिल जावेगी,

वीर पदों पर शिर रख कर
वह भूषण सी खिल जावेगी!

पर जो कहीं उठाए शिर तो
कुचल दिये जावेंगे वे,

नीचे दुर्धर पदाघात के
कभी न उठ पावेंगे वे।

दर्प! उतरते हुये दुर्ग से
यों उस सेना को देखा—

मानों उसकी परम तुच्छता
का वे कर न सके लेखा!

वक्ष? बना था वह काहे का
उठा हीन-निस्पन्द रहा,

मुख? न म्लानता थी कुछ, उससे
सभी ओर आनन्द बहा!

भुज प्रलम्ब? अब भी न फड़कने
जिनसे अपना मुख मोड़ा,

पत्र ? गुरु-गौरव भरी चाल जो
जिन्हें नहीं अबभी छोड़ा।

इस प्रकार निश्शंक परम थे
रणोल्लास में वीर हमीर,

चहल-पहल यों देख दुर्ग की
हुआ तनिक खिलजी गंभीर !

समझा उसने सब दिखाव है,
है ऊपर से ऐसा भाव,

ऐसे आँधी के झोंके में
स्थिर कैसी धीरज की नाव ?

सोचा उसने अपराधी को
पुनः मँगा देखूँ तो आज,

निश्चय है होगा हमीर के
मन पर अब तो भय का राज।

कही दूत ने जाकर फिर जब
अपराधी देने की बात,

तब हमीर बोले—(उस स्थल पर
चमक उठा असि का संघात)
"दूत पूछना तुम ख़िलजी से।
रीति पठानों में कैसी ?
बदली जा सकती हैं क्या वे
करते हैं बातें ऐसी ?
होती हैं दो बात तुम्हारी,
क्या झूठे होते हैं शाह ?
डरने लगे अभी से क्या वे
मन्द पड़ा रण का उत्साह !
कह देना डर देख प्राण का
हो जावेंगे शरणागत,
कुछ शरीर से वैर न, हम तो
मान करेंगे क्षत-विक्षत !"
लौट गया वह दूत बात यह
सुन, लेकर मुँह अपना सा,

अभय भाव गुरु वह हमीर का
उसे लगा बस सपना सा।

\+ + +

कल होगा आरम्भ युद्ध का
पूरी तय्यारी कर आज,
सजा खुली छत पर सुदुर्ग के
नाच रंग उत्सव का साज;
भली भाँति यह देख रहा था
ढंग छावनी से निज शाह,
यह निर्भय व्यापार देखकर
निकल गई बस मुँह से 'वाह'—
"क्या उनको है भीति मृत्यु की
शास्त्र यही कहता जिनका—
रण में मरना मार्ग स्वर्ग का
त्याग देह रूपी तिनका।
फूट रहा है वह देखो तो
सारे वदनों से आनन्द,

मानों है विवाह का उत्सव
विकट वीर हैं ये स्वच्छन्द।"

वीर मीर गवरू था भाई
अपराधी का इनकी ओर।

दोनों की तीरन्दाज़ी का
था पठान-सेना में शोर!

वेफल का यक तीर उठा कर
गवरू ने करके सन्धान,

गढ़ के छत पर की वेश्या
की पेंड़ी में मारा वह तान।

गिरी चीख़ करके जब वेश्या
हुआ सभा के रँग में भंग,

शंका हुई हमीर देव को
रही सभा वह सारी दंग!

किन्तु कहा मेहमा ने बढ़ कर—
"मेरे भाई का यह काम,

तीर चलाने में हम दोनों
निपुण, वहुत अपना है नाम।
यदि आज्ञा हो तो दिखलाऊँ
अपनी भी तीरन्दाज़ी,
शिर से उड़ा शाह की टोपी
मारूँ उससे भी बाज़ी।"
आज्ञा पा कर तीर चलाया,
गिरी शाह की टोपी दूर,
हलचल मची यवन सेना में,
हुआ क्षणिक वह सुख कर्पूर।

\+ + +

छिड़ा युद्ध दूसरे दिवस वह
घमासान जिसका इतिहास,
स्मरण मात्र करके लेता है
मानों घबराहट की साँस।
प्रथम छान[1] के दर्रे पर ही
होने लगा युद्ध विकराल,

---

१ छान नामक दर्रा।

जिसमें बड़े बड़े वीरों के
छिन्न होगये भाल विशाल!
काका जी थे श्री हमीर के
सेना के नायक रणधीर,
जिनके युद्ध विषय के अनुभव
और ज्ञान थे अति गंभीर।
डटे रहे वे पाँच वर्ष तक
करते अति उत्कट संग्राम,
काका कान्ह वीर के समही
किया ज्ञान पर उनने काम—
कट कट भिड़ते राजपूत थे
हट हट लड़ते वीर पठान,
कम मरते थे अधिक मारते
यही राजपूती थी आन।
मानों दुर्धर लहर उठाकर
लड़ते हों सर औ सागर।

धन्य राजपूतो तुमको है
धन्य वीरता के आकर!

थे संख्या में अधिक बहुत ही
महाबली अति वीर पठान,

पर दृढ़ राजपूत लेते थे
एक एक बहुतों के प्राण!

थोड़े से थे सिंह इधर तो
उधर सिखी करि की सेना,

करते थे विदलित आलोड़ित
भय-ताड़ित अरि की सेना!

बिना मुण्ड के रुण्ड कहीं था
यवनों पर कर रहा प्रहार,

कहीं मुण्ड कट कर करता था
मार मार की विकट पुकार!

राजपूत विक्रम की छोटी
नाव चल रही थी दुर्दान्त,

भरे पाल उत्साहानिल से
हिलडुल कर सागर आक्रान्त !
छोटी सी अरि की सेना की
गति लखकर थे रिपु-दल भ्रान्त,
लघु पथ-रोधक की दुर्धरता
उन्हें कर रही थी अति श्रान्त !
पद पद पर थी उन्हें उपस्थित
भीषण लोहे की दीवार,
सफल नहीं होती थी जिनपर
उनके तलवारों की मार !
उन्नत गढ़ से यों दिखती थी
पक्ष युगल की गति विकराल,
दो भारी सरिता लड़ती हों
ज्यों पाकर वर्षा का काल !
रंग विरंगी मेघ राशियां
या उतरीं हों पृथ्वी पर,

जिनमें हों अगणित खड्गों—
की चपलाएँ झरती झर झर!
अथवा भूपर गिर पड़ने से
कर करके भीषण हुंकार,
नभ को विदलित करदेने का
मेघ कर रहे हों व्यापार!
शोणित के जल के फव्वारे
जिनसे छूट रहे हों लाल,
विपुल इन्द्र के वज्र अनेकों
करते जिनमें शब्द कराल!
कहीं कहीं थे यवन बढ़ रहे
चलते बस चींटी की चाल,
पर उनको पिछड़ा देती थी
वैरी जनकी एक उछाल!
कहीं काम करते थे तेगा
कहीं नृत्य-रत थी करवाल,

चमक रहीं थीं वीर-जनों की
प्रलय-बिन्दु सी आखें लाल !

बहु भालों की दूर-मार से
छिद जाते थे हृदय विशाल,

अभी काल जो बना हुआ है,
अभी उपस्थित उसका काल !

बता लेखनी किस प्रकार से
युद्ध कर रहे थे रणधीर,

किधर पड़ा, अब किधर जायगा?
किधर पड़गया कर बेपीर !

युग-भुजदण्डों के घुमाव से एक
गिरे वे कितने वीर,

नाम नहीं लेते उठने का
होता ऐसा व्रण गंभीर !

आहत हो जाता था वैरी
खा बस रक्त दृष्टि का तीर,

सींच रहा रण क्षेत्र वीर था
बहा बहा शोणित का नीर !

लड़ते नित नव दिखा वीरता

तथा धार नित नव उत्साह,

देख वृद्ध वय उस सैनिक को
कहते युवक वृन्द थे वाह !

भाला क्या था—गूँथ रहा था
अगणित देहों की माला !

उनका तीर बनाए था रण—
क्षेत्र—मृत्यु—शिक्षण—शाला !

दश दश शीश काट देती थी
सकृत घूम उनकी तलवार,

वैरि-व्यूह को छिन्न भिन्न कर
उठा रही थी हाहाकार !

वृहत ढाल का शनैः प्रचालन
तोड़ रहा था बहु करवाल—

सदय प्रजाप्रतिपाल आज था
बना समय पाकर ज्यों काल !

घटते जाते राजपूत थे
मार काट यों अगणित वीर,

घटते जाते वे प्रतिदिन थे
शत्रु घटाते अगणित धीर !

शनैः शनैः कट गये बहुत वे
अमर कर गये अपने नाम,

श्री रणधीर अन्त क्षत-जर्जर
हुये, गये फिर हरि के धाम।

पाँच वर्ष तक कर आलोकित
देश बुझगया फिर वह दीप,

जाओ वीर धन्य हैं रक्खें
संग तुम्हें बस स्वर्ग-महीप।

विकट परिश्रम, सुदृढ़ धीरता,
महा वीरता के तुम धाम,

जाओ स्वर्ग धाम को जाओ
पाओ वहाँ सुयश—विश्राम।

\+ + +

जीत छान के दर्रे को अब
बढ़ने लगी शाह की सेन,
जलने बलने लगे क्रोध से
सारे क्षत्रिय जन के नैन!
बढ़ती जाती थी वह सेना
होता जाता था संग्राम,
घेर लिया दृढ़ दुर्ग अन्त में
पर न सरा इससे कुछ काम।
चली न कोई युक्ति शाह की
रहने लगा व्यस्त दिन रात,
इस प्रयत्न में जितने बीते
व्यर्थ गये समस्त दिन रात!
होती जाती थीं उस की सब
दुर्ग—नाश—बिधियाँ निष्फल,

खोती जाती थीं आशाएं
अभिलाषाएँ परम प्रबल !
दाँव पेच थे व्यर्थ जा रहे
जिनसे जीते युद्ध सकल,
सूने थे सब हृदय होरहे
सूनी सेना की कल कल !
चढ़ी आ रही मनोगगन में
कृष्ण पराजय घटा घहर,
जिसमें मृत्यु—भीति की
विद्युत भय देती थी छहर छहर !
उलटे संकट पड़े न शिर पर
होता था अब ऐसा ज्ञात।
बाहर से कुछ मदद इन्हें
जो मिली हुआ तो हित का घात !
सभय हो रहे बादशाह थे
मनमें होते हुये अधीर,

करते थे वे भाग्य परीक्षा,
स्यात लक्ष्य पर पहुँचे तीर !

\+ + +

इधर राजमंत्री हमीर का
लोभी गुप्त रूप से था,
करता अपना कार्य सदा वह
सच्चे के स्वरूप से था।
अवसर लख उपयुक्त मिल गया
बादशाह से वह चुपचाप,
किन्तु सफल होता दिखता था
नहीं उसे निज कार्य-कलाप।
अन्त किया यह छल मंत्री ने,
कह दी राजा से यह बात—
"हुई समाप्त भोज्य—सामग्री
आई अब विपत्ति की रात।"

वज्रपात सम समाचार सुन
शंकित हुये हमीर नितान्त,
वीर सकल हो गये प्रकम्पित
सभी लोग सुन हुये अशान्त !
नीरव नयन देखते थे बस,
सब नीरव नयनों का हाल,
अपनी भावी दशा सोचकर
हुआ सभी के उर में शाल।
मंत्री ने कह दिया रिक्त हैं
'जोराँ—भोराँ'[1] दोनों खास,
इतने भारी भण्डारों का
ख़ाली होना था अति त्रास।
पहले तो हो सका न लोगों
को एकाएकी विश्वास,
मंत्री पर सन्देह किन्तु था
कभी फटक सकता क्या पास ?

१—जोराँ—भोराँ नाभ के भण्डार।

वीर हमीर जगत में होता
कहाँ नहीं छलना का वास,

हां! वीरों को अधिक रहा ही
करता वीरों का विश्वास!

इष्ट न यह, कलुषित करता
सन्देह तुम्हारा हृदय विशाल,

पर न राजनय के पालन की
तुमने तो सीखी थी चाल।

इसीलिये तो बिना बिचारे
नियमों के पालन की रीति,

संशय को है स्थान न यद्यपि,
पर न छले जाने की भीति।

कहने सुनने की न जगह है,
न दिल दुखाने की है बात,

मात्र नीति पालन होता है
जैसे होते हैं दिन रात।

सहसा क्यों विश्वास किया यों
क्यों न स्वयं देखे भण्डार,
क्यों न शेष की देख रेख की
क्यों न अधिक-व्यय-हेतु-विचार।

कितनी थी गढ़ में सामग्री
क्या न तुम्हें था इसका ज्ञान,
कितने दिन वह चल सकती थी
थे क्या इससे भी अनजान!

यदि ऐसा था तो क्यों तुमने
ले रक्खा था शासन-भार!
एक वीरता के बल पर ही
क्या हो सकता है निस्तार!

अगर शौर्य ही था प्यारा
तो रहना था सैनिक बन कर,
राज काज के हित निर्वाचित
कोई नीति-कुशल-जन कर!

अचतुर होकर नृप करता है
अपना नहीं सभी का नाश,
ऐसे महावीर नृप को भी
बाँधे क्यों न पाप का पाश!

जितने जन के भाग्य चक्र की
कील बना रहता नर-पाल,
उतने जनकी बुद्धि-सजगता
रखना उसका कार्य-विशाल।

धीर वीर ध्रुव धर्म परायण
हो, यदि होते चतुर नृपाल,
तो क्या हो सकता था ऐसे
वृद्ध जगद्गुरु[1] का यह हाल!

वे स्वामी के भी लड़ने की
सेना यदि शिक्षा पाली,

---

१ भारत।

तो कैसे पद दलित उस समय
होती भारत की छाती !

हुआ बड़ा दर्बार रात को
पर न निरीक्षण का था ध्यान,

देखा नहीं कि क्या सचमुच ही
कौव्वा ले भागा है कान !

यही देख लेते कितने दिन
की अब सामग्री है शेष,

अस्तु, किया निर्णय जो तुमने
वह भी तो था शौर्य विशेष !

बन्द किले में रह कर भूखों
मरना नहीं वीर का काम,

इसीलिये निर्णीत हुआ यह
बाहर निकल करें संग्राम।

देख उपस्थित गुरु संकट यह
हुआ विकल अति महिमा शाह,

'इसी तुच्छ जीवन के हित है
हुआ हाय यह रक्त प्रवाह!
पर अब सह्य नहीं हो सकता
इस प्रकार वीरों का घात,
बिना मौत के उनका योंही
मरना क्या समुचित है बात।'

"महाराज मैं नहीं चाहता
जीवन की रक्षा इस भाँति,
इतने जीवन देकर जीवन
रखना हो वाञ्छित किस भाँति?
आत्म-समर्पण मैं कर दूँगा
क्यों जूझे यों वीर समाज,
क्यों शृगाल के लिये निहत हों
सिंह जाल में फँस कर आज।
मैं अवस्तु हूं पर तिस पर भी
हुई आपकी करुणा-कोर,

इतनी जितनी दिखलाता है
नहीं पिता भी सुत की ओर।

धन्य हुआ ऐसी संगति से
हूँ मैं सब प्रकार कृतकृत्य,

इच्छा होती है मरने पर
भी रह सकूँ पदाश्रित भृत्य।

आत्मसमर्पण शीघ्र करूँगा,
यों हितकारी जनका घात

महाराज मैं देख न सकता,
मेरा जीवन ही क्या बात!

अगर राज्य यह नहीं रहेगा
तो होंगे अगणित उत्पात,

स्वामिभक्त यह प्रजा न जाने
देखे कैसे दिन औ रात।

आप सदृश वीरों से होंगे
साधित भारी भारी काम,

मेरा क्या ? मेरे मरने पर
कोई लेगा भी क्यों नाम ?

धन्य विश्वबन्धुत्व भाव यह
क्षत्री करे यवन का त्राण,

और स्वयं गबरू भाई भी
लेना चाहें मेरा प्राण।

जाऊँगा मैं अन्य लोक को
पर है यही विनय भगवान,

देना इस सम्भ्रान्त राज्य को
तुम सदैव ही आशिष-दान।

भारत के जन का हो जावे
जो सारे जग पर साम्राज,

तभी जगत से हट सकता है
दुर्विचार-दुर्नय का राज।

विश्वबन्धुता, सहिष्णुता
औदार्य, अन्य धर्मों का मान;

केवल है इस पुण्य देश में,
यही देश पुण्यों का प्रान !"

सजल नयन हो वीर यवन ने
राजा को सभक्ति देखा,

चरम कृतज्ञ भाव था, मुख पर
दृढ़ता की सशक्ति रेखा।

पदपर गिरने की अभिलाषा
रोक रहा था वह प्रति क्षण,

मन की कर सकने की आशा
उत्साहित करती थी मन।

श्री हमीर ने कहा, "वीर तुम
ठहरो उचित न यह उत्साह,

एक प्राण की बात न केवल,
महा आततायी है शाह,

हुआ राजसीमा से उसके
जो उसका दोषी बाहर,

तो उसका अधिकार रह गया
क्या कोई उसके ऊपर ?

उसे उचित था नहीं माँगना
मुझसे मेरे आश्रित को,

देख सभय फिर लोभ न होगा
क्या अत्याचारी चित को।

किये दोष अगणित हैं उसने
धोखा नहीं दिया किसको,

सहन शीलता ने भारत की
यों उद्दण्ड किया उसको।

जो न जीत पावें उसको तो
मर जाना ही है अच्छा,

अपने तन बलिदान न्याय पर
कर जाना ही है अच्छा।

लाञ्छित जीवित वीर जनों से
भले वही जो देते प्राण,

रक्त बूँद उनकी जनती हैं
वीर, फूँक मुर्दों में जान।

ईश्वरीय ये कार्य सभी हैं,
मृत्यु-परे की चिन्ता भार,

इन्हीं तुच्छ जीवों पर निर्भर
है क्या सब जग का उद्धार ?

जीवन से कर्तव्य श्रेष्ठ है,
है क्या यह मिट्टी का ढेर,

इसे समझना मूल राज का
और धर्म का है अन्धेर।

करता है बस ईश्वर रक्षा,
भला हमारा क्या सामर्थ्य,

तुम्हें न देने का, न तुम्हारी
जीवन-रक्षा ही है अर्थ।

पाकर तुमको कर सकता वह
क्या न और गर्हित प्रस्ताव,

समझो मेरी इस उदारता
में यह छिपा स्वार्थ का भाव।

इसमें स्थान नहीं स्तुति को है
यह तो है प्राकृतिक प्रभाव,

मानव सब भाई होते हैं
शत्रु—भाव तो एक बनाव।

मनुज मात्र में भेद भाव तो
एक बुराई की है बात,

उससे ऊपर उठकर भाई
एक साधारण सी है बात!

धन्य तुम्हारी है उदारता
जो यह साधारण सा काम,

तुम को दिव्य समझ पड़ता है
मृदुल तुम्हारा हृदय ललाम।

अधिक नहीं पर-हित-इच्छा से
इष्ट मुझे भारत-साम्राज,

हम चाहेंगे विश्व-हृदय पर
उसके सिद्धान्तों का साज।

धन्य तुम्हें, हो अन्य देश के,
भारत के गौरव का गान!

नहीं प्रफुल्लित हो जावेंगे
ये बातें सुन किसके कान।

बड़ा कठिन जातीय द्वेष के
ऊपर उठने का है काम,

और तुम्हारी धर्म-परिस्थिति
में तो दुस्तर उसका नाम।

इसीलिये खिँच रहा हृदय है
देख तुम्हारा सत्य विवेक,

मरते नहीं तुम्हारे हित हम
उचित नहीं ऐसा उद्रेक।

हां, जावेंगे प्राण तुम्हारे
लड़ते हुए हमारे साथ,

अगर स्नेह है, हुए हमारे,
तो हम उन प्राणों के नाथ,
उन्हें किसी को दे देने का
भला तुम्हें अब क्या अधिकार ?
नहीं धर्म से विचलित होना
या करना धर्मों का सार !
चलो दिखा दें बादशाह को
द्रुत उसके शिर पर चढ़कर,
जीते हो क्या तुम, तुमसे तो
हम मरकर भी हैं बढ़कर।
तुमसे ज्ञान-वृद्ध हैं, मरते
विश्व-बन्धुता-धन के हेतु,
तुमसे वृहत-हृदय हैं, निर्मित
करते शुद्ध आचरण-सेतु !
नीरव मुख से उसे सुनावें
'सुन हे बादशाह निर्दय,

तुझसे मर कर भी हम तुझ पर
पूर्ण रीति से आज सदय।
पाया तूने राज इधर तो
खोया है भीतर का राज,
राज हमारा वह जिस पर हैं
न्यौछावर लाखों साम्राज।"
हुआ चमत्कृत स्तंभित सुन कर
मेहमा यह हमीर की बात,
अंग अंग में बिजली दौड़ी,
सजल नयन थे, पुलकित गात।
ऐसा हठ, ऐसी उदारता,
ऐसी बोली, ऐसा ज्ञान,
ऐसा समय न पड़ता तो क्यों
अनुभव कर सकते ये प्राण!
"मेरी वाणी ही में क्या है
जो इसका देवे उत्तर,

कुछ कहने, कुछ सुनने की है
जगह नहीं अबतो तिलभर।

ऐसे नर के कभी हार ले
शिर पर क्या जावेंगे प्राण,

जावें भी तो विजय हार ले
उर पर हाँ जावेंगे प्राण!

देव तुम्हारे ही चरणों का
मैं आज्ञाकारी सब काल,

चिन्तन-शक्ति कहां? जानूँ क्या
अच्छे और बुरे का हाल?"

\+ + +

राजा ने की आज परीक्षा
जाकर रानी की तत्काल,

दिखला करके भारी चिन्ता
उन्हें सुनाया सारा हाल!

कहा—"हो रहा एक जीव के
पीछे व्यर्थ राज्य का नाश,

जी में आता है लौटा दूँ
जिसका दोषी उसके पास।"

सुनकर रानी हुई हतप्रभ
भ्रू सिकुड़े, लेकर निश्वास,

कहा कि "मैं यह क्या सुनती हूँ,
क्षात्र-धर्म का सम्यक नाश।

मेरे प्राणाधार कह रहे
आकर क्या मुझसे यह बात?

ऐसा सुनने के पहले क्यों
हुआ न भगवन मेरा घात!

कहीं वीर-बाला कर सकती
इन बातों का अनुमोदन,

बस विरुद्ध बोलूँगी मैं, क्या
हुआ आप में परिवर्तन!

नहीं वीर-पत्नी कहलाने
का अब है क्या मेरा भाग ?

नहीं रह गया हाय तुम्हारे
मनमें वीर-भाव-अनुराग।

जो करना हो करो वही तुम
यहाँ पूछने क्या आए,

निर्मल सुमति-गगन के ऊपर
श्याम मेघ हैं क्या छाए ?"

इतना कह कर हट जाने को
उद्यत हुईं वीर रानी,

हुये प्रफुल्लित श्री हमीर जब
उसके मन की गति जानी!

हृदय लगा कर उन्हें किया अति
प्रेम भाव से अभिनन्दन,

वीराभा से आलोकित हो
बना स्वर्ग वह रंग-सदन!

पुनः कहा—"सज लिया प्रथम था
हमने अन्त्य युद्ध का साज,

यह तो करने चला परीक्षा
था इस भाँति तुम्हारी आज।

तुमसे ऐसी ही आशा थी,
वीर वीर-पत्नी-पद आज।

तुम पर घट कर स्वयं सुशोभित
हुआ, धन्य कर शब्द-समाज।"

"योग्य न थी यह घोर परीक्षा,
हा! अब जी में जी आया,

अन्त्य युद्ध का साज साजिये,
हमतो हैं पति की छाया!"

+ + +

रण के हित पतियों को सज्जित
करती थीं सब क्षत्राणी,

स्पर्श-करी उत्साह-मर्म की
कह कह ओज-भरी वाणी।
सजा भाल केशर-त्रिपुण्ड से
पहना कवच, पीत परिधान।
(अति सुन्दर केशरी वस्त्र की
झलक मोह लेती थी प्राण।)
बाँध बाँध करके कमरों से
निज कोमल कर से करवाल,
व्यक्त सरल नयनों से करके
सुमन-वज्र सम हृदय विशाल,
मौन विदा देतीं थी अन्तिम
दर्शन कर करके ललना,
भारत की प्राचीन आन थी
अथवा मात्र क्षणिक छलना।"
धमक नगाड़ा बजा युद्ध का
निकल पड़े बाहर सब वीर,

किये मध्य में श्री हमीर को
जय-निनाद करते गम्भीर।

अन्त्य प्रिया के आलिंगन ने
जो फूँका था वज्रोत्साह,

नहीं सम्हालता था हमीर से
उसे सम्हालेगा क्या शाह ?

\+ \+ \+

निकला वह गम्भीर भाव से
हर हर करता जो जन-यूह,

टूट पड़ा सम्मुख पाकर के
यवन-अनी का दुस्तर व्यूह।

उन भुज दण्डों की प्रचण्ड
उद्दण्ड खण्डकारी वह मार,

घूम रही थी उत्थित करती
अगणित शस्त्रों की झनकार !

सैनिक-गति-रव-आदि वेग से
अंधड़ का लाकर हुंकार,
शोणित की अगणित बौछारों
के मिस कर वर्षा-विस्तार,

काट शत्रु दल, पाट भूमि तल,
उठा मृत्यु गर्जन अनिवार,
विद्युत-मारण-यंत्र सदृश थी
बनी नाशकारी तलवार!

लड़ते मानों भेद गगन को
उभय ओर के थे रणनाद,
फैलाती थी घोर प्रतिध्वनि
कायर जन में वीर-विषाद!

करवालों से कट कट कर
करवाल कर रहे थे खनकार!
भाले मानों झपट झपट कर
कर देते थे हृदय-विदार!

घोड़ों की टापों से टूटी
आँतो के लख लख कर तार,

होते थे अपनी रचना को
नष्ट देख चिन्तित करतार।

राजपूत-वीरों की गुञ्जित
श्रवण-विदारिणि थी हुँकार,

हृदय हीन, दुर्दान्त प्रलय के
पुतलों से थे वे इस बार।

वाम पार्श्व पर यवन-सेनके
क्षत्रिय-बल था झुका प्रथम,

छिन्न भिन्न करता उसको था
चलता अपना पथ दुर्गम।

वृहत दुर्ग था बना हुआ बस
उनके पृष्ठ-भाग की ओर,

जिधर पहुँचने को यवनों का
चल न रहा था कोई ज़ोर।

दूरस्थित जो यवन-सेन थी
बढ़ न सक रही थी आगे,
पासकती थी वह तो केवल
निज सैनिक पीछे भागे।

पार्श्व काटते राजपूत थे
बढ़ते आगे ही जाते,
मृत यवनों के रिक्त स्थान पर
अन्य यवन थे आ जाते।

तनिक तनिक संकुचित हो रहे
थे क्षत्रिय आगे की ओर,
करते तीन कोण आकृति की
अनी मचाते अपना शोर।

लक्ष्य अनी का अन्तराल कर
आगे अब वे वीर चले,
प्रमुख यवन-सेना-विनाश
को मानों हुये अधीर चले।

द्विविध विभक्त पृष्ठ के सैनिक
काट कर रहे थे भारी,
किन्तु यवन–सेना–सुपंक्तियाँ
लड़ती थीं बारी बारी।

पर करते जब पार्श्व छिन्न सब
वे आगे ही चले गये,
विवश यवन सैनिक पीछे
पीछे भागे ही चले गये।

अन्तरीप सा अन्तराल में
घुसा राजपूतों का दल,
अग्र कोण पर श्री हमीर थे
करते सभी ओर खल बल।

लक्ष्य शाह के हाथी पर था
बार बार उनका होता,
किन्तु पास की काट मार से
ध्यान उधर का था खोता।

काम आगये यों यवनों के
कट कट कर अगणित योधा,
अन्त हार कर उन लोगों ने
बस पीछे का पथ शोधा।
आपद् अपने निकट देख कर
बादशाह होगये अधीर,
भगदड़ देखी, वे भी भागे
पाने विपद-नदी का तीर।
बढ़े और भी राजपूत तब
करने लगे युद्ध घमसान!
छीना आगे बढ़ कर विधि से।
बादशाह का भव्य निशान।
लौट पड़े फिर ले कर उसको
हो कर महा मोद में मस्त,
पर गुरु-परिवर्तन करने में
भी है काल सदा अभ्यस्त!

\+ + +

लौटा राजपूत दल सुख से।
वही निशान किये आगे,
दर्प-पूर्ण निज विजय-चिन्ह,
आनन्द-अज्ञान किये आगे।

समझा गया क़िले में ऐसा।
आते विजयी वीर पठान,
आगे आगे था निशान जो।
कहता यही बात था क्या न ?

लिया देवियों ने सुवन्हि पथ,
चिता बनगई एक महान,
जली सभी क्षत्री बालाएँ
स्वीय विजय से निपट अजान।

हो कर के अनुकूल अवस्था
क्षण में हो जाती प्रतिकूल !
भूल तुम्हारी काल न क्या यह,
फूल दिखा कर देते शूल !

कोप दृष्टि जिस पर करते हो,
हार जीत भी कर देते।

क्यों भारत के विक्रम-अर्जित
सुफल सदा थे हर लेते।

किस कारण से था भारत पर
यों दुर्दैव तुम्हारा कोप,
क्यों इसका विस्तृत यश-वैभव,
इस प्रकार करना था लोप ?

कहता है यह कौन कि भारत,
निज अशक्तता के कारण,
नहीं कर सका बहिर्जातियों,
की अन्तर्गति का वारण !

केवल करि के परिवर्तन को।
समझ लिया नृप का भगना
था सेना ने, सेना को।
दुर्दैव नहीं था यों ठगना।

लाये तुम इसके विनाश को।
सदा परिस्थितियां प्रतिकूल,
इस अपनी अवनति में भारत
के जन की थोड़ी है भूल।
नहीं मूर्खता—कायरता से।
भारत का था हुआ विनाश,
बनते खेल बिगाड़े तुमने
फेंक विकट छलना के पाश।
जल को आग बनाया तुमने।
प्राप्त सफलता को मृग-जाल,
परम उच्चता को तुमने ही
बना दिया था गर्त अतल।
हृदय- रोम को सुई बना कर
किया क्लेशकारी तन में,
चढ़े हुये को, फिर चढ़ते को
फिसला गिरा दिया क्षण में।

जब गढ़ पहुँचे श्री हमीर तब
हृदय विदारक सुन यह हाल,
गिरिसे गिरे अचानक गह्वर
में मानों होकर बेहाल !

उस आशा की चरमोन्नति से
परम निराशा का यह जाल,
स्थिर रह सकता कैसे चाहे।
हो जितना दृढ़ हृदय विशाल।

जलती हुई सैकड़ों सुइयाँ !
चुभी हृदय में मानों हाय,
या सहस्र वृश्चिक-दंशन थे।
सहते निज तन में निरुपाय !

लगी घूमने वसुधा सारी।
विषमय धूम हुआ पवमान !
श्वास श्वास में हुई रुकावट
हुये जर्जरित विचलित प्राण !

जलने लगा सकल भूमण्डल,
टूटा भानु गिरा दुर्दान्त;
प्रलय काल उनके भीतर था
करता बस नस नस को भ्रान्त।

गुण की सजग मूर्तियां करती
विजयी-जन सगर्व-स्वागत
हाय! सो रहीं थीं अब तो वे
क्षार-राशि के अन्तर्गत!

कहां जगमगाते अंगो पर
रत्नों की आभा-माला,
बुझी हुई हा कहाँ आज यह
जलते अंगों की ज्वाला!

चन्दन–अगर–लेप—वासित तन
जय-स्वागत का आलिंगन,
चन्दन-निर्मित-चिता मध्य यह,
पति वियुक्त हो स्वयं-दहन!

मुख से झरते फूल और वे
कर से बरसे स्वागत फूल,
कहाँ क्षार में छिपे शेष बहु
चिनगारी के जलते शूल।

"आओ, विजय-देवि, बस आओ
पहने अँगारों का हार!
और कर सकोगी क्या ? तुमतो
हमें जला कर करदो क्षार!"

स्मृतियों की असंख्य चपलाएँ
करती थीं मस्तक-छेदन!
तनके सारे रक्त बिन्दु थे
चिनगारी कर रहे वमन!

दहक उठीं असंख्य ज्वालाएँ
मानस के भीतर उस काल,
लहक उठीं असंख्य लपटें थी
बन कर सारे तन का काल!

टूट रही थी नस नस उनकी
भीषण था मन का आघात,
छूट रही थी शोणित से गति
होगा क्या जीवन का पात!

किसी ओर से उन्हें सुन पड़ा
विजयी का स्वागत-आह्वान!
स्वर्ग-देश से बुला रही थी
उन्हें आज वे कौन स-मान!

घूर्मित वसुधा हुई अन्त में,
प्रलय-शोर उत्थित घन घोर,
विकट बवंडर में विचार के
वे उड़ते से थे सब ओर!

चढ़ी कालिमा सभी ओर अब
हुआ श्याम सारा ब्रह्माण्ड,
जाने किधर लिये जाता था
हा! विपत्ति-मारा ब्रह्माण्ड!

शून्य हो गया अन्त सभी कुछ,
मूर्छित होकर गिरे महीप,
भारी झोकों से झंझा के
बुझने को था देश-प्रदीप!

जब भूपति जागे मूर्छा से
कहा यही, बस भर कर आह,
"यही ज्ञात होती प्रभु-इच्छा
अधिकक्रृत करे दुर्ग यह शाह!

फूट गया है भाग्य न होंगे
पहले से अब बाहु प्रबल,
होता जाता है अपना तो
सब प्रकार अब हृदय अबल!

तो क्या इस स्वाधीन स्वभू को
पराधीन लखने को हाय!
जीवन रखना होगा मुझको
कौन स्वाद चखने को हाय!

इच्छा यही नाथ की होवे
भारत पर यवनों का राज,

क्यों अन्यथा बिगड़ जाता यह
बना बनाया अपना साज !

कोप करो मत प्रिये आरहा हूँ
मैं भी तो देने साथ,

क्या कर लेगा रहकर भूपर
मेरा भाग्यहीन अब माथ !

हे भारत के सभी सपूतो,
भारत सौंप तुम्हारे हाथ,

होते हैं कर शिथिल सदा को
सोता भाग्यहीन यह माथ !

हे भारत की ललनाओं तुम
शंकित ही रहना सब काल,

मार्ग तुम्हारा नित निश्चित है
बस पवित्र पावक का जाल !

नहीं नहीं अब मुझे न रोको
बन्धु तुम्हारे सदय स्वभाव,

डालो तुम अब हाय न मुझ पर
प्रेम-पाश का मधुर प्रभाव!

मेरे बिना नहीं बिगड़ेगा,
नहीं रुकेगा कुछ जगमें,

क्यों फिर सम्मुख तुम आते हो
मुझे रोकने को मग में।

बिदा! बिदा! तुमसे लेता हूँ
बिदा, शूर जन के समुदाय!

स्थिर हो जाओ, क्यों रोते हो
तुच्छ मनुज के हित निरुपाय!

पूज्य मातृभू, तव चरणों में
अर्पित ये आँसू दो चार,

और रह गया है क्या मेरे
जो मैं तुमको दूँ उपहार!

कभी तुम्हारे वीर-पुत्र जो
कर लेंगे कुछ मेरी याद,

कम हो जावेगा वियोग का
अगर रहेगा मुझे विषाद !

हाय मातृभू, अब आज्ञा दो
चरण कमल छूता हूँ आज,

अन्तिम बार, हुई कुछ सेवा
नहीं, किया इतने दिन राज !

माता तेरी सदय गोद में
ही जाता है यह हतभाग,

मरने पर भी मेरा होवे
तेरे चरणों में अनुराग !

हट हट तू आशा, मायाविनि,
अये निराशे तेरा पाश !

आ करदे अपने हाथों से
तू मेरे जीवन का नाश ।

शिव, देता हूँ मस्तक की बलि
करना इस भू का कल्याण,
स्वयं तीसरा नयन खोल
इसके अरियों के लेना प्राण।
ठीक! ठीक! अब देर नहीं है
लो, अबतो जाता हूँ हाय!
मेरा क्लेश नष्ट करने का
एक मात्र यह है सदुपाय!"
शिर निज काट चढ़ाया शिव पर,
गिरा एक भारत का स्तंभ,
अन्त हुआ कैसा भीषण यह,
कैसा सुन्दर था आरम्भ!
हुई विकल वह वीर-भूमि अति
अपना भावी क्लेश-विचार,
रोने लगे शृगाल, भूमि पर
छाया तम का सा विस्तार!

\+ \+ \+

दुष्ट मंत्री ने ख़बर दी शाह को,
फिर किया आह्वान रक्त-प्रवाह को!

आगया वह दुर्ग लेने के लिये,
मेहमा को दण्ड देने के लिये।

वीर मारण—यंत्र थे मानो रचे,
लड़ मरे क्षत्री सभी जो थे बचे।

मेहमा भी काम आया युद्धमें
दर्प से जीवन गँवाया युद्ध में।

जल गईं थीं ही प्रथम सुकुमारियाँ,
मिलसकीं उसको न सुन्दर नारियाँ।

हाथ शव-भण्डार बस उसके लगा
साथ शव भण्डार बस उसके लगा।

मेवाड़ के भीष्म

वीर—भू मेवाड़ अधिपति
वृद्ध लाखा राज,
आज थे दरबार में
शोभित समेत समाज।

सुरुचि चारण कर रहे थे
सब गुणों का गान!
संकुचित इस रीति से थे
वे नृपति मतिमान।

राज चिन्हों का मुदित था
शुभ्र गौरव साज,
थे रहे आलाप—रत
सरदार सभी विराज।

जो सुलक्षण वीर थे
युवराज बाहु—विशाल,
वीर चूड़ा जी उपस्थित
थे नहीं उस काल।

सूक्ष्म वे धर्मज्ञ थे दृढ—
निश्चयी अति धीर,
सत्य उनका था अटल
सुविचारमय गंभीर।

एक भी तो थी कभी
उनकी न टलती बात,
भान मिथ्या भाव का
था ही न उनको ज्ञात।

राज्य से मंडोर के
आया पुरोहित एक,
जो लिये था नारियल
युवराज के हित एक।

राव रणमल-राजकन्या
का विचार विवाह,
दूत प्रेषित वह हुआ था,
था भरा उत्साह !

प्रश्न जब नृप ने किया-
"क्या आगमन का हेतु,"
विप्र—मुखने जो बनाया
वह वचन का सेतु।

टूट करके रह गया, उतरा
नहीं वह पार,
भाव तब यह हो गया उसके
कथन का सार—

"आज मैं राठौर-कन्या-
रत्न परिणय हेतु,
हूँ यहां आया हुआ
मेवाड़-पति कुल केतु !"
फेर कर तब हाथ दाढ़ी
पर कहा यह भूपने,
"क्या विरक्त किया न तुमको
मुझ जरा के रूप ने,
नारियल का आगमन
मेरे लिये कैसा हुआ ?
क्या कृपा की दृष्टि मुझ पर ?
भाग्य क्या ऐसा हुआ ?"
सुन हँसी की बात ऐसी
हँस पड़ी सारी सभा,
थी सुषम सरदार जनकी
दन्त अवली की प्रभा।

\+ + +

वीर चूड़ा जी उपस्थित जब हुये,
बात तब उनपर विदित वह हो गई।
वे हृदय में घोर चिन्तित तब हुये,
एक क्षण को बुद्धि उनकी खोगई।

"लौटना क्या इस पुरोहितको पड़ा,
है उपस्थित यह हुआ संकट बड़ा।
वीरजन का कब उचित अपमान है?
छोड़ना क्या धर्म का भी ध्यान है?

पितृ-आज्ञा भी टलेगी हाय अब,
आग कोई यों जलेगी हाय अब।
हैं पिताजी बस यही कहते अभी—
'सुत करो स्वीकार यह संबंध तुम,'

पर कहो मन क्या तुम्हीं कहते अभी!
कर सकोगे क्या यही बन अंध तुम?
सोचते तुम मन निपट निस्सार हो,
क्या करो अपमानको? लाचार हो।

पितृ-आज्ञा-भंग यद्यपि वर नहीं,
किन्तु कुछभी धर्मसे बढ़कर नहीं।"

सोचते थे वीर चूड़ा जी यही,
बात इतने में महीपति ने कही—

(थी तड़ित कीसी चमक मस्तिष्क में,
थी प्रतिज्ञा की दमक मस्तिष्क में,

बात सुननेके प्रथम निश्चय किया,
दूर दुबिधा, दूर सब संशय किया)

"नारियल आया हुआ मंडोर से,
वीर राठौराधिपति की ओर से,

योग्य है सब भाँति ही युवराज के,
क्यों न हो स्वीकार वह दिन आज के।"

सोचते कुछ देर तक फिर भी रहे,
व्यग्र मुख पर और भीतर भी रहे,

पर उठी थी जो हृदय में भावना,
जम गई अब दुर्ग दृढ़ता का बना।

कुछहृदय-स्पन्दन हुआ फिर मिटगया,
भाल में कुञ्चन हुआ फिर मिट गया,

बैठ उच्चादर्श के शुभ गोद में
वीर ने गंभीरता से मोद में—

स्पष्ट मन का हाल अपने कह दिया,
"हो सकेगा यह नहीं मेरा किया।

वह हँसी जो की यहाँ पर आपने!
बात उससे भिन्न सारी हो गई,

जो हँसी में भी लिया वर आपने
पूज्य तो कन्या हमारी होगई।

जो पिता के हेतु होवे नारियल,
किस तरह सुत-हेतु जावे वह बदल!

जो उन्होंने ली समझ अपने लिये,
वर गई वह तो पिता को धर्म से,

बात इतनी वे कहें जिसके लिये,
वह वरे सुत धर्म के किस मर्म से?"

उच्च भावालोक से हो जगमगी,
रह गई सारी सभा सुनती ठगी,

सब हँसी, सब बात सबमुख से भगी,
सर्व मानस में महा चिन्ता जगी !

बहुत समझाया नृपति ने "थी हँसी
मोह में कैसी तुम्हारी मति फँसी,

खेल क्या यों नारियल से योग्य है,
वृद्धवयमें व्याह निन्द्य, अयोग्य है।"

"पर पिताजी बात तो यह तोलिये,
क्या न हम भागी बनेंगे पाप के,

वे हमारी कौन होंगी बोलिये
जो हँसी के योग्य होंगी आपके ?"

देखकर गंभीर तब इस भाव को
वृद्ध लाखा जी प्रकट चकरा गये,

डूबती लख बीच ही में नाव को
सब विवेकी जन सनाका खागये,

व्यर्थ लेना वैर है राठौर से,
नीति के यह तो नितान्त विरुद्ध है,

मिलेगा धिक्कार ही सब ओर से,
भाव यह युवराज का पर शुद्ध है।

हार कर बहुबार के अनुरोध से
वृद्ध राणा व्यस्त चिन्तित होगये,

अन्त में लाचार होकर, क्रोध से
कहा-"स्वत्व सभी तुम्हारे खोगये।

व्याह करना अब मुझे अनिवार्य है,
पर अमंगलकर बड़ा यह कार्य है,

नववधू से सुत हुआ जो दैववश,
राज्य का अधिकार पावेगा वही,

सोचलो अबभी न करता हूँ विवश,
अन्यथा कुछ हाथ आवेगा नहीं।

तुम स्वयं आते नहीं हो राह पर,
कर रहे मुझको विवश हो व्याह पर।

इसलिये खाओ शपथ सद्भाव से,
राजसेवा नित करोगे चाव से।"

यह कठिन आज्ञा सुनी उस वीर ने,
धीरता छोड़ी नहीं उस धीरने!

लोभ पर मन के विजय की वीरता
थी अचल स्थिरता तथा गंभीरता

खेलती, करती हुई शोभित वदन,
था बना स्वर्गीयता का जो सदन!

शान्तिमय स्वर में कहा-"हां हो यही,
इस विषय में है उचित चिन्ता नहीं,

पद ग्रहण कर एक लघु सरदारका
भ्रातृ-सेवा ही करूँगा मैं सदा,

त्याग करके राज्य के अधिकार का
राज्य का संकट हरूँगा मैं सदा।

प्रिय पिता जी, जानता भगवान है
सत्य पालन एक मेरी आन है।"

बात सुन सब स्तब्ध मानव रह गये,
वाह में सद्भाव के क्षण बह गये।

स्वर्ग था मानों प्रकट संसार में,
अवतरित था देव नर-आकार में।

+ + +

जो कि होना था वही होकर रहा,
नव वधू के सुवन ही होकर रहा।

नाम मोकल पुत्र का रक्खा गया,
सोच पहले का उठा फिर बन नया।

कोख में कन्या प्रथम आई नहीं
बात दबती हुई दब पाई नहीं,

सोच बढ़ता ही गया वह दिन बदिन,
वृद्ध का रहने लगा कुछ मन मलिन।

वीर चूड़ा वीर-वर्य प्रचण्ड थे,
इसलिये विख्यात कह कर चण्ड थे।

वृद्ध-मानस में रही शंका सदा,
अन्त मोकल पर न आवे आपदा!

क्या सदा चूड़ा निबाहेंगे बचन,
बाद में उनका बदल जावे न मन,

सोचते यों ही बिताये पाँचसाल,
बढ़ गया अंकुर हुआ अब तरु विशाल!

"राज्य जीते जी उसे दे दीजिये,
कुछ समय रक्षा स्वयं कर लीजिये,"

प्रौढ़ता को प्राप्त था अब यह विचार,
कार्य में परिणत न, यों मस्तिष्कभार!

इस समय ही श्रीगया का पुण्य स्थान,
था यवन-आक्रान्त, संकट में महान।

वृद्ध राणा को मिली उसकी ख़बर,
सुन पड़ा कुछ धर्म का संदेश वर,

चुप भला वे बैठ सकते थे कभी?
युद्ध को प्रस्तुत हुये राणा तभी।

कुछ समय मन में छिपा निज कामना,
पूर्व घटना पूर्ण-विस्मृत सी बना,

वीर चूड़ा को बुला कर यों कहा—
"युद्ध से तो लौटने से मैं रहा।

है जरा मुझसे यही अब कह रही,
युद्ध क्या है प्राप्त अन्तिम काल ही।

श्रेष्ठ अवसर कौन प्राण-त्यागका
प्राप्त होगा अन्य इससे भी हमें,

पूर्ण यह उत्कर्ष है सौभाग्य का
क्रत मिलेगा धन्य इससे भी हमें ?

शेष है अब प्रश्न केवल एकही
जीविका दें कौन मोकल के लिये,

क्या तुम्हें भी ठीक जँचती है कहीं ?
कौन सी जागीर देनी चाहिये।"

सुन सहम सा वह गया मानस उदार,
'क्यों हुई है यह नई दुविधा असार!

भूलते हैं क्या पिताजी बात वह,
यदि नहीं तो क्यों रहे यह बात कह !

याकि मेरी है परीक्षा हो रही ?
बात टल सकती नहीं मेरी कही।

राज्य क्या खो जायँ तीनों लोक भी
सत्य के ऊपर, न होगा शोक भी !'

रह गये वे सोच कर ही यह नहीं,
साज सजने की शुभाज्ञा शीघ्र दी।

राज्य मोकल बाल को देने स्वयं
लेगये दरबार सबको वे स्वयं !

ठीक सामग्री सभी जब हो गई,
गोद भाई को लिया अति चाव से,

वृद्ध की शंका सभी तब खोगई,
सब मनुज पुलकित हुये सद्भाव से।

दूसरे क्षण बाल था सिंहासनस्थ,
वीर चूड़ा थे स्वयं करते तिलक,

बाल-शशि को कर समुद स्वर्णासनस्थ
केशरी उसमें स्वयं भरते तिलक।

राजचरणों में किया फिर नत प्रणाम,
भरगया उसकाल सब का हृदय-धाम!

फिर पिता की ओर लखकर यह कहा,
कार्य मेरे हेतु अब क्या बच रहा?

आप यदि जागीर दे देंगे मुझे,
राज्य में इस भाँति रख लेंगे मुझे,

भ्रातृ-रक्षा तो करूँगा मैं सदा,
अन्यथा जो भाग्य में होगा बदा!

एक घोड़ा, एक भाला, एक ढाल,
और यक तलवार बस मेरे लिये,

ओर क्षत्री को नहीं कुछ चाहिये,
गृह सकल संसार बस मेरे लिये।

स्तब्ध थी सरदार की गुरु मंडली,
पड़ गई सारी प्रजा में खलबली,

देखकर वैराग्य निज युवराज का,
दृश्यपर वह पुट करुण रस साज का !

उस वदन पर थी मधुर स्मिति खेलती,
देख राणा जी स्वयं गद्गद हुये,

धन्य हो सीसौदिया-कुल-रत्न तुम !
धन्य ! केवल ये वचन निर्गत हुये।

पोछ करके नेत्र, धरके धैर्य कुछ,
वृद्ध लाखा जी लगे कहने पुनः,

(कण्ठ-स्वरमें था न उनके स्थैर्य कुछ,
भाव-धारा में लगे बहने पुनः !)

किस तरह स्तुति सुत तुम्हारी मैं करूं,
लाल हो तुमको हृदय में मैं धरूं,

राज्य पर तुमको सभी अधिकार है,
पुत्र मोकल का तुम्हीं पर भार है।

दी सलूम्ब्रा की तुम्हें जागीर यह,
राजमंत्री का सदाको पद दिया,

फिर कहा भर दृग-युगलमें नीर यह—
(सब सभाको दृश्य ने गद्गद किया)
"जब कभी इस राज्यमें अभिषेक हो,
वह तुम्हारे वंशजों के हाथ हो,
और आज्ञा-पत्र में सब राज के
चिन्ह-चूड़ा-खड्ग-अंकित साथ हो।"

\+ + +

युद्ध को प्रस्थान राणा ने किया
धर्म हित में प्राण राणा ने दिया।
इधर चूड़ा जी सम्हाले राज थे,
शान्ति-सुख के साथमें सब साज थे।
सब प्रजा में चैन की वंशी बजी,
दे रहे आशिष उन्हें थे लाख जी।

\+ + +

राजमाता के उधर थे बन्धु एक,
नाम जोधा था, कुटिल थे वे बड़े।

चाहते थे वे दबालें राज्य कुछ,
इसलिये अधिकार के पीछे पड़े।

राजमाता से वहीं आकर मिले,
बात समझाई उन्हें यह खेद से,

"हैं प्रजा प्रिय आज चूड़ा बन रहे
इस तरह सोचो भला किस भेद से ?

हाथ में रखकर प्रजा को इस तरह,
खून मोकल का करेंगे वे कभी,

राज्य लेने की उन्हें चिन्ता लगी,
है भला छोड़ा गया अधिकार भी ?"

आगई रानी सरल इस जाल में,
द्वेष मनमें चण्ड से करने लगी।

जब चले भाई गये, तब इस तरह
सब प्रजा के कान वह भरने लगी—

"चण्ड राना आपको कहते नहीं,
पर वही व्यवहार उनका कह रहा,

नाम को है राज्य मोकल को मिला,
वह सदा परतंत्रता है सह रहा।"

बात आई चण्ड के यह कान में,
कुछ लगा आघात मनमें—मान में,

राज-सेवा वे सदा थे कर रहे,
थे सरल समुदार वे सब बात में,

राज्य की थे विघ्नबाधा हर रहे,
हुये चञ्चल इस कुटिल आघात में।

सोच कर—क्या कष्ट रानी को मिला
किस लिये यह बात उनने है कही,

पास उनके जब गये सद्भाव से,
हाथ दुर्व्यवहार की पीड़ा रही।

जो हुई अवहलेना यों मान की,
ठान ली उस वीर ने प्रस्थान की।

पर बिदा के हेतु रानी से मिले,
(भावमय संकल्पमय लोचन खिले)

"राज्य अब माता तुम्हारे हाथमें,
देखना शुभ नीति रखना साथ में,

तुल्य मोकल के समझना नित प्रजा,
विधि सहित करना सदाही हित-प्रजा।

मान में कुलके न कुछ अन्तर पड़े,
और जो संकट कभी शिर पर पड़े,

याद निःसंकोच करना तुम मुझे,
पुत्रसम मनमध्य धरना तुम मुझे,

क्षुद्र तन-मन-धन तुम्हारे ही लिये,
जा रहा यह जन तुम्हारे ही लिये।"

एक घोड़ा, एक भाला, एक ढाल,
एक थी तलवार बस उनके लिये।

किन्तु दो सौ वीर मचले साथ को
भक्तिसे जब, संग तब वे ले लिये।

वीरता उन की विदित थी सब कहीं,
भू खुली थी कौन उनके हित नहीं ?

राज्य माँडू ओरको वे चल पड़े,
सुन मुदित राजा हुए उसके बड़े।

वीरको किसकी भला परवाह है,
वीरकी किसको न जगमें चाह है ?

ले गये नृप नगर-सीमा से उन्हें,
और फिर जागीर हल्लर दे उन्हें,

पद बड़े सरदार का उनको दिया,
सब तरह से मुग्ध अभिनन्दन किया।

+ + +

ससुत चित्तौड़ आये राव रणमल,
उन्हीं से कार्य-शासन था रहा चल।

युगल वे वीर थे, अति नय-कुशल थे,
बने सज्जन हुये थे, किन्तु खल थे।

बड़े पद पा रहे राठौर अब थे,
भरे मेवाड़ में राठौर अब थे।

सदा होते रहे ले गोद मोकल,
स्वयं सिंहासनस्थित राव रणमल।

कहीं जो छोड़ जाता गोद मोकल,
वहीं आसीन रहते राव रणमल।

चमर छत्रादि अपने साथ रखते,
सभी अधिकार अपने हाथ रखते।

चली थी नीति जोधा की यही अब,
न पावे राज मोकल योग्य हो जब।

सभी चित्तौड़-वासी देख जलते,
रहे सामन्त सारे हाथ मलते।

विवश थे क्या करें, किससे कहें वे,
भला था मौन रहकर सब सहें वे।

न भय था पर किसी का था न आश्रय,
यहाँ थी नायकों पर जय-पराजय !

बिना नायक न चलना एक पग था,
उलटना राज्य का तो था बड़ा काम,

स्वयं-कृति का न बढ़ता एक डग था,
इसी से दासता का देश है धाम।

\+ + +

अमल सीसोदियों की वंश-जाई,
सचिन्ता एक वृद्धा धाय आई।
प्रगति राठौर-जन की देख विह्वल,
कहा-(था त्योरियों पर आगया बल)
"बनी अनजान सी क्यों राजमाता,
न क्यों इस वंश का कुछ ध्यान आता!
तुम्हें क्या हाथ से है राज्य खोना,
तथा निज पुत्र के हित शूल बोना?
पिता-भ्राता तुम्हारे राज्य को लें,
तुम्हारे पुत्र को जो विष कहीं दें,
करोगी क्या! कहोगी क्लेश किससे?
यहाँ है कौन बैठा और जिससे?

\+ + +

बीर श्री रघुदेव थे सीसौदिया
बीर चूड़ा बन्धुवर, कुल के दिया !

केलबारा औ' करेरिया नामकी
थी मिली जागीर उनको राज्य में,

थी बड़ी राठौरजनके काम की,
थे खटकते वीर उनको राज्य में।

दुष्ट जोधा ने उन्हीं से छल किया,
कालका उनको अकाल कवल किया।

राजमाता ने खबर जब यह सुनी,
तब कहीं भावी विपद मनमें गुनी।

निज पिता पर की प्रकट शंका कहीं,
भाव उनका खुल गया मनका वहीं।

यह कहा—"तुम बीच में बोलो नहीं,
राह मोकल-मृत्यु की खोलो नहीं।

अब हमारा ही यहां अधिकार है,
और हस्तक्षेप सब निस्सार है।"

आँख के आगे अँधेरा छागया
घोर संकट का समय था आगया।

क्या करे रानी, कहे किस से भला?
था उसे आत्मीय जन ने ही छला।

क्षोभ का उसके रहा लेखा नहीं,
काम पड़ता एक नर देखा नहीं।

कौन सा अब मार्ग था उद्धार का?
रोध था अब क्या खलों के वार का?

अन्त में कर वीर चूड़ा का स्मरण,
यह किया निश्चित कि लें उनकी शरण।

दूत-द्वारा कर क्षमा की प्रार्थना,
सब दशा मेवाड़ की उन को सुना,

याद करवाई उन्हें उस बात की,
जो कि थी चलते समय उनने कही।

और कहलाई स्वसुत के घात की
जो कि थी धमकी उसे दी जा रही।

"आपने अभिषेक जिसका था किया,
नित्य रक्षाभार जिसका था लिया,

हाय मेरी अज्ञता के दोष से,
छोड़ थे जिसको गये गत-रोष से,

आज उस पर शत्रुओं का रोष है,
मैं सदोषा, किन्तु वह निर्दोष है।

वीर वर, क्या अब तुम्हारे राज का,
या तुम्हारे आश्रितों के ताज का

यों करेंगे अपहरण राठौर ये,
यथा मुँह में धर रहे हों कौर ये,

और तुम चुपचाप बैठोगे वहां,
आन पर फिर बाद पैंठोगे कहां?

त्याग अबला-बुद्धि पर निज कर्म को,
आप पालेंगे न क्या निज धर्म को?"

\+ \+ \+

वृत्त सुन कर वीर चूड़ा रह गये,
और करुणा-वीर रस में बह गये !

यों कहा—"हूँ राज्य का सेवक सदा,
किन्तु देखूं भाग्य में है क्या बदा !

पूज्य माँ जी से हमारा
कह अनेक प्रणाम,

पुनः कहना जो नहीं मुझसे
हुए विधि वाम,

और जीवन रह गया तो
कुछ दिनों के बाद,

दुष्ट जन का गूंजता
होगा वहां दुख-नाद ।

\+ + +

जो साथ सिपाही थे दोसौ
कुछ उनमें से भेजे स्वदेश,

कुछ पुलिस और कुछ द्वारपाल
बन द्वार छेकने को विशेष।

कहलाया फिर रानी से यों
विश्वस्त भृत्य जन सँग करके,

भोजन वितरण-हित मोकल को
लाओ बहु अन्न साथ धर के।

हो अमुक अमुक ग्रामों से तुम
दीनों में वितरण कर भोजन,

बस दीपावलि के दिन पहुँचो
गोसुंडा नाम ग्राम सब जन।

हो भूल न, इस विधि से आना
जाने न भेद कोई मनका,

मैं मिल जाऊँगा तुम्हें वहीं
सँग ले गिरोह अपने जनका।

+ + +

पहुँच कर ग्राम गोसुंडा पड़ी थीं
हुई जब देर तब उत्सुक बड़ी थीं।

'न जाने कौन बाधा आगई है,
जगत में बात होती यह नई है—

प्रतिज्ञा वीर चूड़ा छोड़ते हैं,
समय पर इस तरह मुँह मोड़ते हैं।

अभय दे यों महाभयदान देंगे,
मनुज अब बात यहभी मान लेंगे—

उदित हो भानु पश्चिम में, चलेंगे
उलट कर, पूर्व का अब मार्ग लेंगे।'

यही सब सोचती ठहरी हुई थीं,
न थी आहट कि वे बहरी हुई थीं।

समय गत देख करके राजमाता,
विकल थीं, आज जीवन था न भाता।

'दशा होगी भला अब क्या भुवन की ?
भवन की राह लें या राह वन की ?

कदाचित आगये अनिवार्य कारण,
हुआ कारण, न था जिसका निवारण,

इसीसे आ न पाये वीरवर हैं,
न भूलेंगे हमें वे सत्यधर हैं।

मिलें चित्तौड़ ही आकर हमें वे,
उबारेंगे कभी आकर हमें वे।

न होगी तो ससंशय बात कोई,
हुई या सँग उन्हीं के घात कोई ?'

यही सब सोचती लौटीं वहाँ से,
शुभाशा साथ लातीं वे जहाँ से,

निराशा साथ ले आईं वहाँ से,
गईं क्यों और क्यों आईं कहाँ से ?

सभय थी होरही अब चारु चितवन,
'हुआ तो सँग नहीं कोई कुटिल जन।

गया खुल हो कहीं जो भेद अपना ?
कहीं हो जाय जीवन ही न सपना ?'

यही सब सोचती वे जा रहीं थीं,
विविध विधि चित्तको भरमा रहीं थीं,

कि इतने में पड़ी सुन टाप पीछे,
रुकीं वे देखने चुपचाप पीछे।

समुत्सुक देखती थीं राजमाता,
चला इस ओर है यों कौन आता ?

बड़ी आशा हुई यक बार उनको,
निराशा किन्तु बारम्बार उनको।

मलिन मेवाड़भू का भाग्य समझा,
कुतर्कों से इसी से चित्त उलझा,

उन्हें पर छेदते वे शीघ्र आये,
तमस को भेदते वे शीघ्र आये।

नवाया माथ, छू माँके चरण तब,
बनाया शिर चरण का आभरण तब,

चुईं चारों नयन से बूँद टप टप,
कहा—"मातः किया मैंने बड़ा तप,

बुढ़ापे में तुम्हारे काम आकर,
सफल इस तुच्छ जीवनको बनाकर,

सुखी हो नित्य चरणों में रहूँगा,
तुम्हारे सर्व संकट मैं सहूँगा।"

किया मोकल-चरण में फिर प्रणाम,
समझ राणा, सविधि यों नीतिपाली,

नमन नृप को प्रजा का नित्य काम,
प्रजाजन हों बड़े या शक्तिशाली।

न बातें कुछ हुईं उनमें वहाँ पर,
वहाँ कुछ बात का अवसर कहाँ था?

न जाने चित्त था उनका कहाँ पर?
यदपि प्रत्येक जन का तन वहाँ था।

चले चित्तौर को चुपचाप फिर वे,
सभी शंकित तथा बहु भाँति स्थिर वे।

चमू पीछे रही कुछ दूर उनसे,
उसे आदेश चूड़ा का यही था,

सजे कुछ दूसरे ढँग से वसन थे,
न चूड़ा का स्वयं निज वेश ही था।

नगर में घुस गये बेरोक यों वे,
कहा जागीर वाले जन भले हैं,

हुई है देर नृप को लौटने में,
उन्हें इस हेतु पहुँचाने चले हैं।

न पहिचाने गए वे इस लिए ही,
किसी ने इस लिए शंका नहीं की;

मगर जब आगई सेना वहाँ पर,
अभी पहुँचे स्वयं चूड़ा जहाँ पर,

खुला सब भेद रँग ढँग देख कर के,
जगे राठौर, दौड़े क्रोध-भर के।

हुई आरम्भ छोटी सी लड़ाई,
बहुत की चण्ड की असि ने सफ़ाई।

खिँची तलवार दोनों ओर से जब,
जगे सीसौदिया भी नींद से तब।

नगर ने एक दम तलवार खींची,
रुधिर-राठौर से भू शीघ्र सींची।

जहाँ देखो लगे राठौर कटने,
गली कूचे शवों से लगे पटने।

लगी सीसौदियों की गृहणियाँ भी,
झरोखों से चलाने ईंट-पत्थर,

गए सब ओर से राठौर मारे,
नहीं था हेतु उनके त्राण का घर।

पड़ा था एक कोने राव रणमल,
महल में मद-पिये बेहोश निर्बल।

ख़बर उसको नहीं इस बात की थी,
प्रतीक्षा कुछ न इस आघात की थी।

ख़बर इस युद्ध छिड़ने की मिली जब,
हुई अति प्रेमिका दासी मुदित तब,

उसे राठौर से क्यों प्रेम होता,
असर अपना नहीं है वंश खोता।

उठी सीसौदिया वह वीर-बाला,
कहा—'यह राव रणमल सर्प काला,

कहाँ बचकर भगेगा आज मुझसे,
लहेगा यह यहाँ का राज मुझसे।'

उसे बेसुध समझ कर खेल सूझा,
अधिक उसने न कुछ समझा न बूझा,

उसीकी बड़ी पगड़ी से जकड़ कर,
उसे बस खाट से बाँधा पकड़ कर!

वहाँ पश्चात आप चण्ड के चर,
उसीको ढूँढ़ने में व्यस्त तत्पर,

हुआ कुछ शोर, जागा उस समय वह,
लगा सब ओर लखने अति सभय वह!

दशा यों देख अपनी क्रोध आया,
बँधा था किन्तु उठने वह न पाया।

तड़प कर एक झटका यों दिया तब
कि पगड़ी टूट कर टुकड़े हुई सब।

उठा लड़ने, मगर गोली लगी एक,
निकल पाया न मुँहसे अन्त्य उद्रेक !

लिया परलोक का पथ दुष्ट ने बस,
भगा जोधा रहा उसका न कुछ बस।

रहे राठौर जो मारे गये सब,
भगेड़ू का किया पीछा गया अब,

किया मंडोर अधिकृत चण्डने फिर,
किया बारह बरस तक राज उस पर,

रही नित छत्रछाया चण्ड की स्थिर,
सदा रक्षामयी मेवाड़पुर पर !

हुये अब शत्रुओं से हीन मोकल,
रहा मन चण्ड का सब काल निर्मल।

दयामय थे परम औदार्य के घर,
हुये हो सत्य के तुम तो धुरंधर !

तुम्हारा यश जगत में गूँज करके
तथा उसमें परम शुचि भाव भर के,

रहेगा नित सुकृत सब को सिखाता,
गुणी क्या और गुण क्या यह बताता!

तुम्हीं-से जन जगत–उपकार करते,
तुम्हीं-से जन जगत–उद्धार करते!

तुम्हीं-से जन जगत–भूषण कहाते,
जगत के विविध दूषण धो बहाते!

हमारे कान में संदेश कह कर,
हमारे चित्तमें सब काल रह कर,

करा दो देश-बेड़ा-पार हमसे,
करा दो हिन्दका उद्धार हमसे।

रहोगे वीर-जन–मणि–चक्र–चूड़ा,
कुटिलता के लिये अति वक्र, चूड़ा।

बनो तुम मन-गगन–ध्रुव धीर चूड़ा,
पदों पर है विनत शिर वीर चूड़ा।